॥ ज्ञानेश्वरी भावार्थदीपिका अध्याय ५ ॥

॥ ॐ श्री परमात्मने नमः ॥
अध्याय पांचवा ।
संन्यासयोगः ।

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १॥

मग पार्थु श्रीकृष्णातें म्हणे। हां हो हें कैसें तुमचें बोलणें। एक होय तरी अंतःकरणें। विचारूं ये ॥ १॥
मागां सकळ कर्मांचा सन्यासु। तुम्हींचि निरोपिला होता बहुवसु। तरी कर्मयोगीं केवीं अतिरसु। पोखीतसां पुढती ? ॥ २॥
ऐसें द्व्यर्थ हें बोलतां। आम्हां नेणतयांच्या चित्ता। आपुलिये चाडें श्रीअनंता। उमजु नोहे ॥ ३॥
ऐकें एकसारातें बोधिजे। तरी एकनिष्ठचि बोलिजे। हें आणिकीं काय सांगिजे। तुम्हांप्रति ॥ ४॥
तरी याचिलागीं तुमतें। म्यां राउळासि विनविलें होतें। जें हा परमार्थु ध्वनितें। न बोलावा ॥ ५॥
परी मागील असो देवा। आतां प्रस्तुतीं उकलु देखावा। सांगैं दोहींमाजि बरवा। मार्गु कवणु ॥ ६॥
जो परिणामींचा निर्वाळा। अचुंबितु ये फळा। आणि अनुष्ठितां प्रांजळा। सावियाचि ॥ ७॥
जैसें निद्रेचें सुख न मोडे। आणि मार्गु तरी बहुसाल सांडे। तैसें सोहोकासन सांगडें। सोहपें होय ॥ ८॥
येणें अर्जुनाचेनि बोलें। देवो मनीं रिझले। मग होईल ऐकें म्हणितलें। संतोषोनियां ॥ ९॥
देखा कामधेनु ऐसी माये। सदैवा जया होये। तो चंद्रुही परी लाहे। खेळावया ॥ १०॥
पाहे पां श्रीशंभूची प्रसन्नता। तया उपमन्यूचिया आर्ता। काय क्षीराब्धि दूधभाता। देइजेचिना ? ॥ ११॥
तैसा औदार्याचा कुरुठा। श्रीकृष्णु आपु जाहलिया सुभटा। कां सर्व सुखांचा वसौटा। तोचि नोहावा ? ॥ १२॥
एथ चमत्कारु कायसा। गोसावी श्रीलक्ष्मीकांताऐसा। आतां आपुलिया सवेसा। मागावा कीं ॥ १३॥
म्हणौनि अर्जुनें म्हणितलें। तें हांसोनि येरें दिधलें। तेंचि सांगेन बोलिलें। काय कृष्णें ॥ १४॥

श्रीभगवानुवाच ।
संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २॥

तो म्हणे गा कुंतीसुता। हे संन्यासयोगु विचारितां। मोक्षकरु तत्त्वता। दोनीही होती ॥ १५॥
तरी जाणां नेणां सकळां। हा कर्मयोगु कीर प्रांजळा। जैसी नाव स्त्रियां बाळां। तोयतरणी ॥ १६॥
तैसें सारासार पाहिजे। तरी सोहपा हाचि देखिजे। येणें संन्यासफळ लाहिजे। अनायासें ॥ १७॥
आतां याचिलागीं सांगेन। तुज संन्यासियाचें चिन्ह। मग सहजें हें अभिन्न। जाणसी तूं ॥ १८॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३॥

तरी गेलियाची से न करी। न पवतां चाड न धरी। जो सुनिश्चळु अंतरीं। मेरु जैसा ॥ १९॥
आणि मी माझें ऐसी आठवण। विसरलें जयाचें अंतःकरण। पार्था तो संन्यासी जाण। निरंतर ॥ २०॥
जो मनें ऐसा जाहला। संगीं तोचि सांडिला। म्हणौनि सुखें सुख पावला। अखंडित ॥ २१॥
आतां गृहादिक आघवें। तें कांहीं नलगे त्यजावें। जें घेतें जाहलें स्वभावें। निःसंगु म्हणौनि ॥ २२॥
देखैं अग्नि विझोनि जाये। मग जे राखोंडी केवळु होये। तैं ते कापुसें गिंवसूं ये। जियापरी ॥ २३॥
तैसा असतेनि उपाधी। नाकळिजे तो कर्मबंधीं। जयाचिये बुद्धी। संकल्पु नाहीं ॥ २४॥
म्हणौनि कल्पना जैं सांडे। तैंचि गा संन्यासु घडे। इयें कारणें दोनी सांगडे। संन्यासयोगु ॥ २५॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४॥

एऱ्हवीं तरी पार्था। जे मूर्ख होती सर्वथा। ते सांख्ययोगुसंस्था। जाणती केवीं ? ॥ २६॥
सहजें ते अज्ञान। म्हणौनि म्हणती ते भिन्न। एऱ्हवीं दीपाप्रति काई आनान। प्रकाशु आहाती ? ॥ २७॥
पैं सम्यक् येणें अनुभवें। जिहीं देखिलें तत्त्व आघवें। तें दोहींतेंही ऐक्यभावें। मानिती गा ॥ २८॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं साख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५॥

आणि सांख्यीं जें पाविजे। तेंचि योगीं गमिजे। म्हणौनि ऐक्य दोहींतें सहजें। इयापरी ॥ २९॥
देखैं आकाशा आणि अवकाशा। भेदु नाहीं जैसा। तैसें ऐक्य योगसंन्यासा। वोळखे जो ॥ ३०॥
तयासीचि जगीं पाहलें। आपणपें तेणेंचि देखिलें। जया सांख्ययोग जाणवले। भेदेंविण ॥ ३१॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६॥

जो युक्तिपंथें पार्था। चढे मोक्षपर्वता। तो महासुखाचा निमथा। वहिला पावे ॥ ३२॥
येरा योगस्थिति जया सांडे। तो वायांचि गा हव्यासीं पडे। परि प्राप्ति कहीं न घडे। संन्यासाची ॥ ३३॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७॥

जेणें भ्रांतीपासूनि हिरतलें। गुरुवाक्यें मन धुतलें। मग आत्मस्वरूपीं घातलें। हारौनियां ॥ ३४॥
जैसें समुद्रीं लवण न पडे। तंव वेगळें अल्प आवडे। मग होय सिंधूचि एवढें। मिळे तेव्हां ॥ ३५॥
तैसें संकल्पोनि काढिलें। जयाचें मनचि चैतन्य जाहलें। तेणें एकदेशियें परी व्यापिलें। लोकत्रय ॥ ३६॥

आतां कर्ता कर्म करावें। हें खुंटलें तया स्वभावें। आणि करी जऱ्ही आघवें। तऱ्ही अकर्ता तो ॥ ३७॥

> नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
> पश्यञ्श्रृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥ ८॥
> प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
> इंद्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९॥

जे पार्था तया देहीं। मी ऐसा आठऊ नाहीं। तरी कर्तृत्व कैचैं काई। उरे सांगैं ? ॥ ३८॥
ऐसें तनुत्यागेंवीण। अमूर्ताचे गुण। दिसती संपूर्ण। योगयुक्तां ॥ ३९॥
एऱ्हवीं आणिकांचिये परी। तोही एक शरीरी। अशेषाही व्यापारीं। वर्ततु दिसे ॥ ४०॥
तोही नेत्रीं पाहे। श्रवणीं ऐकतु आहे। परि तेथींचा सर्वथा नोहे। नवल देखें ॥ ४१॥
स्पर्शासि तरी जाणे। परिमळु सेवी घ्राणें। अवसरोचित बोलणें। तयाहि आथी ॥ ४२॥
आहारातें स्वीकारी। त्यजावें तें परिहरी। निद्रेचिया अवसरीं। निदिजे सुखें ॥ ४३॥
आपुलेनि इच्छावशें। तोही गा चालतु दिसे। पैं सकळ कर्म ऐसें। रहाटे कीर ॥ ४४॥
हें सांगों काई एकैक। देखें श्वासोच्छ्वासादिक। आणि निमिषोन्निमिष। आदिकरूनि ॥ ४५॥
पार्था तयाचे ठायीं। हें आघवेंचि आथि पाहीं। परी तो कर्ता नव्हे कांहीं। प्रतीतिबळें ॥ ४६॥
जैं भ्रांति सेजे सुतला। तैं स्वप्नसुखें भुतला। मग तो ज्ञानोदयीं चेइला। म्हणौनियां ॥ ४७॥

> ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
> लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १०॥

आतां अधिष्ठानसंगती। अशेषाही इंद्रियवृत्ती। आपुलालिया अर्थीं। वर्तत आहाती ॥ ४८॥
दीपाचेनि प्रकाशें। गृहींचे व्यापार जैसे। देहीं कर्मजात तैसे। योगयुक्ता ॥ ४९॥
तो कर्में करी सकळें। परी कर्मबंधा नाकळे। जैसें न सिंपे जळीं जळें। पद्मपत्र ॥ ५०॥

> कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
> योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११॥

देखैं बुद्धीची भाष नेणिजे। मनाचा अंकुर नुदैजे। ऐसा व्यापारु तो बोलिजे। शारीरु गा ॥ ५१॥
हेंच मराठे परियेशीं। तरी बाळकाची चेष्टा जैशी। योगिये कर्में करिती तैशीं। केवळा तनु ॥ ५२॥
मग पांचभौतिक संचलें। जेव्हां शरीर असे निदेलें। तेथ मनचि रहाटें एकलें। स्वप्नीं जेवीं ॥ ५३॥
नवल ऐकें धनुर्धरा। कैसा वासनेचा संसारा। देहा होऊं नेदी उजगरा। परी सुखदुःखें भोगी ॥ ५४॥
इंद्रियांच्या गांवीं नेणिजे। ऐसा व्यापारु जो निपजे। तो केवळु गा म्हणिजे। मानसाचा ॥ ५५॥
योगिये तोही करिती। परी कर्में तें न बंधिजती। जे सांडिली आहे संगती। अहंभावाची ॥ ५६॥
आतां जाहालिया भ्रमहत। जैसें पिशाचाचें चित्त। मग इंद्रियांचें चेष्टित। विकळु दिसे ॥ ५७॥
स्वरूप तरी देखे। आळविलें आइके। शब्दु बोले मुखें। परी ज्ञान नाहीं ॥ ५८॥

हें असो काजेंविण। जें जें कांहीं करण। तें केवळ कर्म जाण। इंद्रियांचें ॥ ५९॥
मग सर्वत्र जें जाणतें। ते बुद्धीचें कर्म निरुतें। ओळख अर्जुनातें। म्हणे हरी ॥ ६०॥
ते बुद्धी धुरे करुनी। कर्म करिती चित्त देऊनी। परी ते नैष्कर्म्यापासुनी। मुक्त दिसती ॥ ६१॥
जें बुद्धीचिये ठावूनि देहीं। तयां अहंकाराची सेचि नाहीं। म्हणौनि कर्म करितां पाहीं। चोखाळले ॥ ६२॥
अगा करितेनवीण कर्म। तेंचि तें नैष्कर्म्य। हें जाणती सुवर्म। गुरुगम्य जें ॥ ६३॥
आतां शांतरसाचें भरितें। सांडीत आहे पात्रातें। जें बोलणें बोलापरौतें। बोलवलें ॥ ६४॥
एथ इंद्रियांचा पांगु। जया फिटला आहे चांगु। तयासीचि आथि लागु। परिसावया ॥ ६५॥
हा असो अतिप्रसंगु। न संडी पां कथालागु। होईल श्लोकसंगति भंगु। म्हणौनियां ॥ ६६॥
जें मना आकळितां कुवाडें। घाघुसितां बुद्धी नातुडे। तें दैवाचेनि सुरवाडें। सांगवलें तुज ॥ ६७॥
जें शब्दातीत स्वभावें। तें बोलींचि जरी फावे। तरी आणिकें काय करावें। कथा सांगैं ॥ ६८॥
हा आर्तिविशेषु श्रोतयांचा। जाणोनि दास निवृत्तीचा। म्हणे संवादु दोघांचा। परिसोनि परिसा ॥ ६९॥
मग श्रीकृष्ण म्हणे पार्थातें। आतां प्राप्ताचें चिन्ह पुरतें। सांगेन तुज निरुतें। चित्त देईं ॥ ७०॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२॥

तरी आत्मयोगें आथिला। जो कर्मफळाशीं विटला। तो घर रिघोनि वरिला। शांति जगीं ॥ ७१॥
येरु कर्मबंधें किरीटी। अभिलाषाचिया गांठीं। कळासला खुंटी। फळभोगाच्या ॥ ७२॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३॥

जैसा फळाचिये हांवें। तैसें कर्म करी आघवें। मग न कीजेचि येणें भावें। उपेक्षी जो ॥ ७३॥
तो जयाकडे वासु पाहे। तेउती सुखाची सृष्टि होये। तो म्हणे तेथ राहे। महाबोधु ॥ ७४॥
नवद्वारें देहीं। तो असतुचि परि नाहीं। करितुचि न करी कांहीं। फलत्यागी ॥ ७५॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४॥

जैसा कां सर्वेश्वरू। पाहिजे तंव निर्व्यापारु। परि तोचि रची विस्तारु। त्रिभुवनाचा ॥ ७६॥
आणि कर्ता ऐसें म्हणिपे। तरी कवणें कर्मीं न शिंपें। जे हातुपावो न लिंपे। उदासवृत्तीचा ॥ ७७॥
योगनिद्रा तरी न मोडे। अकर्तेपणा सळु न पडे। परी महाभूतांचें दळवाडें। उभारी भले ॥ ७८॥
जगाच्या जीवीं आहे। परी कवणाचा कहीं नोहे। जगचि हें होय जाये। तो शुद्धीहि नेणे ॥ ७९॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥

पापपुण्यें अशेषें। पासींचि असतु न देखें। आणि साक्षीही होऊं न ठके। येरी गोठी कायसी ? ॥ ८० ॥
पैं मूर्तीचेनि मेळें। तो मूर्तचि होऊनि खेळे। परि अमूर्तपण न मैळे। दादुलयाचें ॥ ८१ ॥
तो सृजी पाळी संहारी। ऐसें बोलती जे चराचरीं। तें अज्ञान गा अवधारीं। पंडुकुमरा ॥ ८२ ॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

तें अज्ञान जैं समूळ तुटे। तै भ्रांतीचें मसैरें फिटे। मग अकर्तृत्व प्रगटे। मज ईश्वराचें ॥ ८३ ॥
एथ ईश्वरु एकु अकर्ता। ऐसें मानलें जरी चित्ता। तरी तोचि मी हें स्वभावता। आदीचि आहे ॥ ८४ ॥
ऐसेनि विवेकें उदो चित्तीं। तयासी भेदु कैंचा त्रिजगतीं। देखें आपुलिया प्रतीति। जगचि मुक्त ॥ ८५ ॥
जैशी पूर्वदिशेच्या राउळीं। उदया येतांचि सूर्य दिवाळी। कीं येरीही दिशां तियेचि काळीं। काळिमा नाहीं ॥ ८६ ॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठातत्परायणः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

बुद्धिनिश्चयें आत्मज्ञान। ब्रह्मरूप भावी आपणा आपण। ब्रह्मनिष्ठा राखे पूर्ण। तत्परायण अहर्निशीं ॥ ८७ ॥
ऐसें व्यापक ज्ञान भलें। जयांचिया हृदया गिंवसित आलें। तयांची समता दृष्टि बोलें। विशेषूं काई ॥ ८८ ॥
एक आपणपांचि जैसें। ते देखतीं विश्व तैसें। हें बोलणें कायसें। नवलु एथ ॥ ८९ ॥
परी दैव जैसें कवतिकें। कहींचि दैन्य न देखे। कां विवेकु हा नोळखे। भ्रांतीतें जेवीं ॥ ९० ॥
नातरी अंधकाराची वानी। जैसा सूर्यो न देखे स्वप्नीं। अमृत नायके कानीं। मृत्युकथा ॥ ९१ ॥
हें असो संतापु कैसा। चंद्रु न स्मरे जैसा। भूतीं भेदु नेणती तैसा। ज्ञानिये ते ॥ ९२ ॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥

मग हा मशकु हा गजु। कीं हा श्वपचु हा द्विजु। पैल इतरु हा आत्मजु। हें उरेल कें ? ॥ ९३ ॥
ना तरी हे धेनु हें श्वान। एक गुरु एक हीन। हें असो कैचें स्वप्न। जागतया ॥ ९४ ॥
एथ भेदु तरी कीं देखावा। जरी अहंभाव उरला होआवा। तो आधींचि नाहीं आघवा। आतां विषमु काई ॥ ९५ ॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥

म्हणौनि सर्वत्र सदा सम। तें आपणचि अद्वय ब्रह्म। हें संपूर्ण जाणें वर्म। समदृष्टीचें ॥ ९६ ॥
जिहीं विषयसंगु न सांडितां। इंद्रियांतें न दंडितां। परी भोगिली निसंगता। कामनेविण ॥ ९७ ॥

जिहीं लोकांचेनि आधारें। लौकिकेंचि व्यापारें। परि सांडिलें निदसुरें। लौकिकु हें ॥ ९८॥
जैसा जनामाजि खेचरु। असतुचि जना नोहे गोचरु। तैसा शरीरीं परी संसारु। नोळखे तयांतें ॥ ९९॥
हें असो पवनाचेनि मेळें। जैसें जळींचि जळ लोळे। तें आणिकें म्हणती वेगळें। कल्लोळ हे ॥ १००॥
तैसें नाम रूप तयाचें। एऱ्हवीं ब्रह्मचि तो साचें। मन साम्या आलें जयाचें। सर्वत्र गा ॥ १०१॥
ऐसेनि समदृष्टी जो होये। तया पुरुषा लक्षणही आहे। अर्जुना संक्षेपें सांगेन पाहें। अच्युत म्हणे ॥ १०२॥

न प्रहृष्योत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ २०॥

तरी मृगजळाचेनि पूरें। जैसें न लोटिजे कां गिरिवरें। तैसा शुभाशुभीं न विकरे। पातलिया जो ॥ १०३॥
तोचि तो निरुता। समदृष्टी तत्त्वतां। हरि म्हणे पंडुसुता। तोचि ब्रह्म ॥ १०४॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१॥

जया आपणपें सांडूनि कहीं। इंद्रियग्रामावरी येणेंचि नाहीं। तो विषय न सेवी हें काई। विचित्र येथ ॥ १०५॥
सहजें स्वसुखाचेनि अपारें। सुरवाडलेनि अंतरें। रचिला म्हणौनि बाहिरें। पाउल न घाली ॥ १०६॥
सांगैं कुमुददळाचेनि ताटें। जो जेविला चंद्रकिरणें चोखटें। तो चकोरु काई वाळुवंटें। चुंबितु असे ? ॥ १०७॥
तैसें आत्मसुख उपाइलें। जयासि आपणपेंचि फावलें। तया विषयो सहजें सांडवले। म्हणो काई ? ॥ १०८॥
एऱ्हवीं तरी कौतुकें। विचारूनि पाहें पां निकें। या विषयांचेनि सुखें। झकविती कवण ॥ १०९॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२॥

जिहीं आपणपें नाहीं देखिलें। तेचि इहीं इंद्रियार्थीं रंजले। जैसें रंकु कां आळुकैलें। तुषांतें सेवी ॥ ११०॥
नातरी मृगें तृषापीडितें। संभ्रमें विसरोनि जळांतें। मग तोयबुद्धी बरडीतें। ठाकूनि येती ॥ १११॥
तैसें आपणपें नाहीं दिठे। जयातें स्वसुखाचे सदा खरांटे। तयासीचि विषय हे गोमटे। आवडती ॥ ११२॥
एऱ्हवीं विषयीं सुख आहे। हे बोलणेंचि सारिखें नोहे। तरी विद्युत्स्फुरणें कां न पाहे। जगामाजीं ॥ ११३॥
सांगैं वात वर्ष आतपु धरे। ऐसे अभ्रच्छायाचि जरी सरे। तरी त्रिमाळिकें धवळारें। करावीं कां ॥ ११४॥
म्हणौनि विषयसुख जें बोलिजे। तें नेणतां गा वायां जल्पिजे। जैसें महूर कां म्हणिजे। विषकंदातें ॥ ११५॥
नातरी भौमा नाम मंगळु। रोहिणीतें म्हणती जळु। तैसा सुखप्रवादु बरळु। विषयिकु हा ॥ ११६॥
हे असो आघवी बोली। सांग पां सर्पफणीचा साउली। ते शीतल होईल केतुली। मूषकासी ? ॥ ११७॥
जैसा आमिषकवळु पांडवा। मीनु न सेवी तंवचि बरवा। तैसा विषयसंगु आघवा। निभ्रांत जाणें ॥ ११८॥
हे विरक्तांचिये दिठी। जैं न्याहाळिजे किरीटी। तैं पांडुरोगाचिये पुष्टी-। सारिखें दिसे ॥ ११९॥
म्हणौनि विषयभोगीं जें सुख। तें साद्यंतचि जाण दुःख। परि काय कीजे मूर्ख। न सेवितां न सरे ॥ १२०॥
तें अंतर नेणती बापुडे। म्हणौनि अगत्य सेवणें घडे। सांगैं पूयपंकींचे किडे। काय चिळसी घेती ॥ १२१॥

तयां दुःखियां दुःखचि जिव्हार। ते विषयकर्दमींचे दर्दुर। ते भोगजळींचे जळचर। सांडिती केवीं ॥१२२॥
आणि दुःखयोनि जिया आहाती। तिया निरर्थका तरी नव्हती। जरी विषयांवरी विरक्ती। धरिती जीव ॥१२३॥
नातरी गर्भवासादि संकट। कां जन्ममरणींचे कष्ट। हे विसांवेवीण वाट। वाहावी कवणें ॥१२४॥
जरी विषयीं विषयो सांडिजेल। तरी महादोषीं कें वसिजेल। आणि संसारु हा शब्दु नव्हेल। लटिका जगीं ? ॥१२५॥
म्हणौनि अविद्याजात नाथिलें। तें तिहींचि साच दाविलें। जिहीं सुखबुद्धी घेतलें। विषयदुःख ॥१२६॥
या कारणें गा सुभटा। हा विचारितां विषय वोखटा। तूं झणें कहीं या वाटा। विसरोनि जाशी ॥१२७॥
पैं यातें विरक्त पुरुष। त्यजिती कां जैसें विष। निराशा तयां दुःख। दाविलें नावडे ॥१२८॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्षरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

ज्ञानियांच्या हन ठायीं। याची मातुही कीर नाहीं। देहीं देहभावो जिहीं। स्ववश केले ॥१२९॥
जयांतें बाह्याची भाष। नेणिजेचि निःशेष। अंतरीं सुख। एक आथि ॥१३०॥
परि तें वेगळेपणें भोगिजे। जैसें पक्षियें फळ चुंबिजे। तैसें नव्हे तेथ विसरिजे। भोगितेपणही ॥१३१॥
भोगीं अवस्था एकी उठी। ते अहंकाराचा अंचळु लोटी। मग सुखेंसि घे आंटी। गाढेपणें ॥१३२॥
तिये आलिंगनमेळीं। होय आपेंआप कवळी। तेथ जळ जैसें जळीं। वेगळें न दिसे ॥१३३॥
कां आकाशीं वायु हारपे। तेथ दोन्ही हे भाष लोपे। तैसे सुखचि उरे स्वरूपें। सुरतीं तिये ॥१३४॥
ऐसी द्वैताची भाष जाय। मग म्हणों जरी एक होय। तरी तेथ साक्षी कवणु आहे। जाणते जें ॥१३५॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

म्हणौनि असो हें आघवें। एथ न बोलणें काय बोलावें। ते खुणाचि पावले स्वभावें। आत्माराम ॥१३६॥
जे ऐसेनि सुखें मातले। आपणपांचि आपण गुंतले। ते मी जाणें निखिळ वोतले। सामरस्याचे ॥१३७॥
ते आनंदाचे अनुकार। सुखाचे अंकुर। कीं महाबोधें विहार। केले जैसे ॥१३८॥
ते विवेकाचें गांव। कीं परब्रम्हींचे स्वभाव। नातरी अळंकारले अवयव। ब्रह्मविद्येचे ॥१३९॥
ते सत्त्वाचे सात्त्विक। कीं चैतन्याचे आंगिक। हें बहु असो एकैक। वानिसी काई ॥१४०॥
तूं संतस्तवनीं रतसी। तरी कथेची से न करिसी। कीं निराळीं बोल देखसी। सनागर ॥१४१॥
परि तो रसातिशयो मुकुळीं। मग ग्रंथार्थदीपु उजळीं। करी साधुहृदयराउळीं। मंगळउखा ॥१४२॥
ऐसा श्रीगुरूचा उवायिला। निवृत्तिदासासी पातला। मग तो म्हणे श्रीकृष्ण बोलिला। तेंचि आइका ॥१४३॥
अर्जुना अनंत सुखाच्या डोहीं। एकसरा तळुचि घेतला जिहीं। मग स्थिराऊनि तेही। तेंचि जाहले ॥१४४॥
अथवा आत्मप्रकाशें चोखें। जो आपणपेंचि विश्व देखे। तो देहेंचि परब्रह्म सुखें। मानूं येईल ॥१४५॥
जें साचोकारें परम। ना तें अक्षर निःसीम। जिये गांवींचे निष्काम। अधिकारिये ॥१४६॥
जे महर्षी वाढले। विरक्तां भागा फिटलें। जे निःसंशया पिकलें। निरंतर ॥१४७॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

जिहीं विषयांपासोनि हिरतलें। चित्त आपुलें आपण जिंतिलें। ते निश्चित जेथ सुतले। चेतीचिना ॥ १४८ ॥
तें परब्रह्म निर्वाण। जें आत्मविदांचें कारण। तेंचि ते पुरुष जाण। पंडुकुमरा ॥ १४९ ॥
ते ऐसे कैसेंनि जहाले। जे देहींचि ब्रह्मत्वा आले। हें पुससी तरी भलें। संक्षेपें सांगों ॥ १५० ॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

तरी वैराग्याचेनि आधारें। जिहीं विषय दवडूनि बाहिरें। शरीरीं एकंदरें। केलें मन ॥ १५१ ॥
सहजें तिहीं संधी भेटी। जेथ भ्रूपल्लवां पडे गांठी। तेथ पाठिमोरी दिठी। पारखोनियां ॥ १५२ ॥
सांडूनि दक्षिण वाम। प्राणापानसम। चित्तेंसीं व्योम-। गामिये करिती ॥ १५३ ॥
तेथ जैसीं रथ्योदकें सकळें। घेऊनि गंगा समुद्रीं मिळे। मग एकेकु वेगळें। निवडूं नये ॥ १५४ ॥
तैसी वासनांतराची विवंचना। मग आपैसी पारुखे अर्जुना। जे वेळीं गगनीं लयो मना। पवनें कीजे ॥ १५५ ॥
जेथ हें संसारचित्र उमटे। तो मनोरूपु पटु फाटे। जैसें सरोवर आटे। मग प्रतिभा नाहीं ॥ १५६ ॥
तैसें मन एथ मुद्दल जाय। मग अहंभावादिक कें आहे। म्हणौनि शरीरेंचि ब्रह्म होये। अनुभवी तो ॥ १५७ ॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्‌भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंज्ञासयोगोनाम पंचमोऽध्यायः ॥ ५अ ॥

आम्हीं मागां हन सांगितलें। जे देहींचि ब्रह्मत्व पावले। ते येणें मार्गें आले। म्हणौनियां ॥ १५८ ॥
आणि यमनियमांचे डोंगर। अभ्यासाचे सागर। क्रमोनि हे पार। पातले ते ॥ १५९ ॥
तिहीं आपणपें करूनि निर्लेप। प्रपंचाचें घेतलें माप। मग साचाचेंचि रूप। होऊनि ठेले ॥ १६० ॥
ऐसा योगयुक्तीचा उद्देशु। जेथ बोलिला हृषीकेशु। तेथ अर्जुनु सुदंशु। म्हणौनि चमत्कारला ॥ १६१ ॥
तें देखिलिया कृष्णें जाणितलें। मग हांसोनि पार्थातें म्हणितलें। काई पां चित्त उवाइलें। इये बोलीं तुझें ? ॥ १६२ ॥
तंव अर्जुन म्हणे देवो। परचित्तलक्षणांचा रावो। भला जाणितला जी भावो। मानसु माझा ॥ १६३ ॥
म्यां जें कांहीं विवरोनि पुसावें। तें आधींचि जाणितलें देवें। तरी बोलिलें तेंचि सांगावें। विवळ करूनि ॥ १६४ ॥

एऱ्हवीं तरी अवधारा। जो दाविला तुम्हीं अनुसारा। तो पव्हण्याहूनि पायउतारा। सोहपा जैसा ॥ १६५॥
तैसा सांख्याहूनि प्रांजळा। परी आम्हांसारिखियां अभोळां। एथ आहाति परि कांहीं काळा। तो साहों ये वर ॥१६६॥
म्हणौनि एक वेळ देवा। तोचि पडताळा घेयावा। विस्तरेल तरी सांगावा। साद्यंतुचि ॥ १६७॥
तंव श्रीकृष्ण म्हणती हो कां। तुज हा मार्गु गमला निका। तरी काय जाहलें आईकीजो कां। सुखें बोलों ॥ १६८॥
अर्जुना तूं परिससी। परिसोनि अनुष्ठिसी। तरी आम्हांसीचि वानी कायसी। सांगावयाची ? ॥ १६९॥
आधींचि चित्त मायेचें। वरी मिष जाहले पढियंतयाचें। आतां तें अद्‌भुतपण स्नेहाचें। कवण जाणे ॥ १७०॥
तें म्हणो कारुण्यरसाची वृष्टि। कीं नवया स्नेहाची सृष्टि। हें असो नेणिजे दृष्टी। हरीची वानूं ॥ १७१॥
जे अमृताची वोतली। कीं प्रेमचि पिऊनि मातली। म्हणौनि अर्जुनमोहें गुंतली। निघों नेणें ॥ १७२॥
हें बहु जें जें जल्पिजेल। तेथें कथेसि फांकु होईल। परि तें स्नेहरूपा न येल। बोलवरी ॥ १७३॥
म्हणौनि विसुरा काय येणें। तो ईश्वरु कवळावा कवणें। जो आपुलें मान नेणें। आपणचि ॥ १७४॥
तरी मागीला ध्वनीआंतु। मज गमला सावियाचि मोहितु। जे बलात्कारें असे म्हणतु। परिस बापा ॥ १७५॥
अर्जुना जेणें जेणें भेदें। तुझें कां चित्त बोधे। तैसें तैसें विनोदें। निरूपिजेल ॥ १७६॥
तो काइसया नाम योगु। तयाचा कवण उपेगु। अथवा अधिकारप्रसंगु। कवणा येथ ॥ १७७॥
ऐसें जें जें कांहीं। उक्त असे इये ठाईं। तें आघवेंचि पाहीं। सांगेन आतां ॥ १७८॥
तूं चित्त देऊनि अवधारीं। ऐसें म्हणौनि श्रीहरी। बोलिजेल ते पुढारी। कथा आहे ॥ १७९॥
श्रीकृष्ण अर्जुनासी संगु। न सांडोनि सांगेल योगु। तो व्यक्त करूं प्रसंगु। म्हणे निवृत्तिदासु ॥ १८०॥
इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां पंचमोऽध्यायः ॥

Encoded and proofread by
Chhaya Deo, Sharad Deo, and Vishwas Bhide.
Assisted by
Sunder Hattangadi, Joshi, and Shree Devi Kumar.

Please send corrections to sanskrit@cheerful.com
Last updated November 23, 2008